International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 13-05-2024, Accepted: 13-06-2024, Published: 28-06-2024
Volume 6, Issue 1, 2024, Page No. 28-31

जनजातीय परंपराएँ, पर्यावरण और सतत विकास: एक समीक्षा

राठोड बाबासाहेब हरिभाऊ[1], डॉ. ममता रानी[2]
[1] शोधार्थी, विभाग हिन्दी, कलिंगा विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ, भारत
[2] शोध मार्गदर्शिका, विभाग हिन्दी, कलिंगा विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijrh.2024.6.1.8044

सारांश
यह समीक्षा शोध पत्र भारतीय जनजातीय समुदायों की विशिष्ट सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषाई तथा पर्यावरणीय विशेषताओं का व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि जनजातीय समाज का जीवन प्रकृति के साथ गहरे संबंध पर आधारित है, जहाँ पर्यावरण संरक्षण केवल एक सामाजिक दायित्व नहीं बल्कि जीवन–दर्शन का अभिन्न अंग है। जनजातीय समुदायों की प्रकृति–पूजा, पारंपरिक ज्ञान प्रणाली, स्वायत्त शासन व्यवस्था तथा मौखिक भाषाई परंपराएँ उनकी सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़ बनाती हैं। शोध में यह भी उल्लेखित किया गया है कि आधुनिक विकास प्रक्रियाओं, औद्योगीकरण तथा विस्थापन के कारण जनजातीय समुदायों के अस्तित्व, भाषा और संस्कृति पर गंभीर संकट उत्पन्न हुआ है। इसके बावजूद जनजातीय समाज आज भी अपने पारंपरिक मूल्यों, पर्यावरणीय संतुलन तथा सामुदायिक जीवन शैली को संरक्षित रखने के लिए निरंतर संघर्षरत है। अध्ययन यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि सतत विकास, पर्यावरण संरक्षण तथा सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए जनजातीय समुदायों की पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों और जीवन मूल्यों को समझना तथा उन्हें विकास नीतियों में प्राथमिकता देना अत्यंत आवश्यक है।

मूल शब्दः जनजातीय समाज, आदिवासी संस्कृति, प्रकृति संरक्षण, स्वदेशी ज्ञान प्रणाली, जनजातीय पहचान, पर्यावरणीय चेतना, स्वशासन व्यवस्था, जनजातीय भाषाएँ, सतत विकास, पारंपरिक संस्कृति

महाभारत, वेद, पुराण, उपनिषद आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों में "जनजाति" शब्द का विभिन्न संदर्भों में उल्लेख मिलता है। यही कारण है कि जनजातीय लोगों को अलग–अलग रूपों में जैसे—राक्षस, असुर, वनवासी, जंगली आदि नामों से संबोधित किया गया। इसी आधार पर यह भी माना जाता है कि उनका इतिहास वैदिक काल से प्रारंभ होता है।[1]

स्वदेशी और जनजातीय समूहों की वीरता, संस्कृति, कला और परंपराएँ विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। कठिन परिस्थितियों में भी निरंतर संघर्ष करते रहने की उनकी अदम्य इच्छा ने उन्हें हजारों वर्षों तक अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम बनाया है। आर्यों के आगमन के बाद से ही जनजातीय समाज ने विस्थापन और शोषण जैसी अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए भी अपनी पहचान को बनाए रखा है।

जब उन्हें अपने मूल निवास स्थान से जबरन हटाया गया, तब उन्होंने नए क्षेत्रों में जाकर खेती और पशुपालन के माध्यम से अपने जीवनयापन की व्यवस्था की। दुर्गम स्थानों—जैसे पहाड़ों, जंगलों और गुफाओं—में भी जनजातीय समाज ने अपनी सांस्कृतिक पहचान को जीवित रखा। उन्होंने गीत, नृत्य और वाद्ययंत्रों के माध्यम से प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए अपने जीवन को संतुलित बनाए रखा।

भारत की स्वतंत्रता के बाद जनजातीय समुदायों के उत्थान के लिए अनेक योजनाएँ बनाई गईं। यद्यपि इन योजनाओं से कुछ हद तक लाभ हुआ है, फिर भी सरकार द्वारा उनकी संस्कृति के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता नहीं दिखाई गई। औपनिवेशिक दृष्टिकोण के प्रभाव में जनजातीय समाज को अक्सर "जंगली" या "असभ्य" के रूप में प्रस्तुत किया गया, या फिर केवल ऐसे लोगों के रूप में देखा गया जो प्रकृति में रहकर नृत्य और संगीत का आनंद लेते हैं। परंतु उनके प्रकृति के प्रति गहरे समर्पण को वास्तव में समझा नहीं गया। [2]

जनजातीय समुदायों के लिए संतोष एक स्वाभाविक गुण है, जो बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। जहाँ एक ओर आधुनिक समाज प्रकृति के दोहन में लगा हुआ है, वहीं दूसरी ओर जनजातीय समाज आने वाली पीढ़ियों के लिए पर्यावरण का संरक्षण कर रहा है। जनजातीय लेखक हरिराम मीणा के अनुसार, यदि जनजातीय समुदायों ने अपने संसाधनों पर स्वामित्व स्थापित कर लिया होता, तो आज टाटा, बिड़ला, अंबानी और अडानी जैसे बड़े उद्योगपति अस्तित्व में नहीं होते। वर्तमान समय में भी जनजातीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक परंपराओं को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं, जबकि उन्हें अक्सर "विकास विरोधी" जैसे आरोपों का सामना करना पड़ता है। [3]

जैसा कि स्पष्ट है, पर्यावरण संरक्षण जनजातीय धर्म का एक केंद्रीय तत्व है। इसलिए प्राकृतिक संसाधनों के विकास में जनजातीय समुदायों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। लेकिन विडंबना यह है कि विकास के नाम पर उन्हें उनकी भूमि से जबरन विस्थापित किया जा रहा है। जब वे अपने अधिकारों के लिए एकत्रित होकर विरोध करते हैं, तो उन्हें धमकियाँ दी जाती हैं और "नक्सलवादी" जैसे आरोप लगाए जाते हैं।

प्रकृति को सर्वोपरि मानने वाले जनजातीय समुदायों में अनेक विशिष्ट विशेषताएँ पाई जाती हैं। उनकी भाषा, बोली, कला, संस्कृति, लिपि, पहनावा, धार्मिक आस्थाएँ, त्योहार और जीवन–चक्र से जुड़े संस्कारकृये सभी मिलकर उनकी एक विशिष्ट पहचान निर्मित करते हैं। उनकी परंपराएँ, जैसे नृत्य, संगीत और प्रकृति की पूजा, उनके जीवन में विशेष महत्व रखती हैं। आगे के भाग में इन प्रमुख जनजातीय परंपराओं का विस्तार से वर्णन किया जाएगा। [4]

प्रकृति की पूजा एक परंपरा के रूप में

आदिवासी समुदायों और पर्यावरण के संबंध में अक्सर यह प्रश्न उठता है कि क्या केवल आदिवासी ही प्रकृति की पूजा करते हैं? क्या गैर–आदिवासी और सामान्य लोग प्रकृति का सम्मान नहीं करते?

हिंदू धर्म में भी वट (बरगद) और नीम जैसे पवित्र वृक्षों की पूजा की प्राचीन परंपरा रही है। इस दृष्टि से प्रकृति–पूजा केवल आदिवासियों तक सीमित नहीं है। किंतु सामान्यतः गैर–आदिवासी

समाज द्वारा की जाने वाली प्रकृति–पूजा, आदिवासी समाज की प्रकृति–पूजा से भिन्न होती है।

गैर–आदिवासी लोग सागौन और यूकेलिप्टस जैसे वृक्षों को प्रकृति–पूजा के नाम पर लगाते हैं, परंतु उनका वास्तविक उद्देश्य इन वृक्षों के मोटे तनों को काटकर लाभ कमाना होता है। इसी कारण सरकार ने इन वृक्षों की अधिकता पर नियंत्रण लगाने के लिए कुछ प्रतिबंध भी लगाए हैं, क्योंकि ये भूमि से अत्यधिक जल सोख लेते हैं।

एक समाचार के अनुसार, लोग नीम के वृक्ष की पूजा इसलिए करते हैं क्योंकि उससे देवताओं की मूर्तियाँ (विग्रह) बनाई जाती हैं। समय–समय पर जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा के लिए पवित्र वृक्षों को काटकर उनसे मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। इस प्रक्रिया में प्रतिवर्ष हजारों टन लकड़ी काटी जाती है।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि गैर–आदिवासी समाज की प्रकृति–पूजा कई बार स्वार्थपूर्ण और औपचारिक होती है। वे वट–सावित्री या अमावस्या के अवसर पर पेड़ों की पूजा करते हैं, उन्हें धागे से बाँधते हैं और जल चढ़ाते हैं, परंतु वर्ष के शेष समय में उनकी देखभाल नहीं करते।

इसके विपरीत, आदिवासी समाज का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण पूरी तरह समर्पित और व्यावहारिक होता है। वर्षा ऋतु में वे स्वेच्छा से सैकड़ों पेड़ लगाते और उनकी देखभाल करते हैं। गर्मियों में वे जंगल की सफाई करते हैं, आग को बुझाते हैं और केवल सूखी लकड़ी का उपयोग ईंधन के रूप में करते हैं। यदि पेड़ काटना आवश्यक होता है, तो वे केवल उसकी शाखाएँ काटते हैं, जिससे पेड़ पुनः विकसित हो सके। [5]

गैर–आदिवासी समाज जहाँ एक ओर पूरे वर्ष पर्यावरण को नुकसान पहुँचाता है और केवल "विश्व पर्यावरण दिवस" पर औपचारिक रूप से वृक्षारोपण करता है, वहीं आदिवासी समाज का जीवन ही प्रकृति संरक्षण पर आधारित होता है। आज वैश्विक तापन के कारण हिमनद पिघल रहे हैं, जिससे पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है।

मानव अस्तित्व केवल प्रकृति के संरक्षण से ही संभव है। इसलिए यह कहना उचित नहीं होगा कि गैर–आदिवासी वास्तव में प्रकृति के सच्चे उपासक हैं, भले ही वे औपचारिक रूप से ऐसा करते हों। आदिवासी समाज ने प्रकृतिवाद (Naturalism) को पूर्णतः अपने जीवन में अपनाया है।

आदिवासी समुदायों के लिए सभी वृक्ष समान होते हैं। वे हरे–भरे वृक्षों को नहीं काटते, बल्कि केवल सूखी लकड़ी का ही उपयोग करते हैं। यदि कभी पेड़ काटना आवश्यक हो, तो वे जमीन से कुछ ऊँचाई छोड़कर उसे काटते हैं, ताकि उसी स्थान से नए अंकुर विकसित हो सकें। यह उनके पर्यावरण–संरक्षण के गहरे ज्ञान और संवेदनशीलता को दर्शाता है। [6]

जनजातीय कवयित्री जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता "परवाह" में एक मार्मिक प्रश्न प्रस्तुत करती हैं— "माँ, तुम पूरे दिन जंगल में क्यों भटकती हो, पहाड़ों को पार करके लकड़ी खोजती हो और देर शाम घर लौटती हो?"

इस पर माँ उत्तर देती है कि वह पूरे दिन जंगलों में भटककर केवल सूखी लकड़ी ही खोजती है, क्योंकि जीवित पेड़ को काटना उसके लिए उचित नहीं है।

इस कविता से स्पष्ट होता है कि जनजातीय संस्कृति में हरे–भरे वृक्षों को काटने की परंपरा नहीं है। उनके लिए वन संरक्षण अत्यंत महत्वपूर्ण है और वे प्रकृति के साथ संतुलित जीवन जीने में विश्वास रखते हैं।

जनजातीय समाज के प्रत्येक संस्कार और उत्सव में प्रकृति का विशेष स्थान होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हर अवस्था में प्रकृति उनके जीवन का अभिन्न अंग बनी रहती है। डॉ. दसराम बार्दा द्वारा लिखित "हो जनजाति के जन्म संस्कार" में यह वर्णित है कि बच्चे के जन्म के बाद नाल को सियाली पत्ते में लपेटकर घर के पीछे जमीन में दबाया जाता है। इसके पीछे यह मान्यता है कि जो कुछ भी ईश्वर द्वारा प्रदान किया गया है, उसे सम्मानपूर्वक पृथ्वी को वापस करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, बच्चे के सिर के पास इक्कीस दिनों तक धनुष–बाण रखा जाता है। इसका उद्देश्य यह दर्शाना है कि भविष्य में वह बच्चा जंगल में शिकार करने और प्रकृति के साथ जीवन यापन करने के योग्य बनेगा। इन परंपराओं से स्पष्ट होता है कि जनजातीय समाज का जीवन प्रकृति के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है और यह संबंध जीवनभर बना रहता है।

जनजातीय घरों में "गोबर स्थान" नामक एक विशेष स्थान होता है, जहाँ पशुओं का गोबर, मूत्र तथा अन्य जैविक अपशिष्ट एकत्रित किया जाता है। यह स्थान पर्यावरण संरक्षण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जनजातीय लोग कभी भी जल स्रोतों को प्रदूषित नहीं करते और न ही वे ऐसी वस्तुएँ भूमि में डालते हैं जो पर्यावरण को हानि पहुँचाएँ। [7]

इस "गोबर स्थान" में सब्जियों के छिलके, सड़ी–गली सब्जियाँ, पत्तियाँ और बचा हुआ भोजन डाला जाता है। वर्षा ऋतु में यह सब मिलकर सड़–गलकर जैविक खाद (ऑर्गेनिक खाद) में परिवर्तित हो जाता है। इस प्राकृतिक खाद का उपयोग जनजातीय लोग खेती और कृषि कार्यों में करते हैं।

इस प्रकार, जनजातीय समाज का जीवन न केवल प्रकृति के प्रति सम्मान और संवेदनशीलता को दर्शाता है, बल्कि यह भी सिद्ध करता है कि वे पर्यावरण संरक्षण के व्यावहारिक और टिकाऊ तरीकों को अपनाते हैं। उनके जीवन से यह सीख मिलती है कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलन बनाए रखना ही सतत विकास का आधार है।

स्वायत्त जनजातीय संगठन

स्थानीय स्वशासन का अभ्यास करने का अर्थ है सत्ता का विकेंद्रीकरण करना, न कि उसे राष्ट्रीय स्तर पर केंद्रीकृत करना। इससे प्रत्येक समुदाय में रहने वाले लोगों द्वारा शासन प्रणाली में अधिक भागीदारी और हित–आधारित प्रबंधन संभव होता है। भारतीय आदिवासी समूह लंबे समय से अपने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मामलों के समाधान के लिए जनजातीय स्वशासन प्रणाली पर निर्भर रहे हैं। इस प्रणाली के कारण, आदिवासी समुदाय अपनी लंबे समय से चली आ रही परंपराओं और रीति–रिवाजों के अनुसार स्वशासन का अभ्यास कर सकते हैं। [8]

जल, वन और भूमि ब्रिटिश भारत के आदिवासी निवासियों की संपत्ति थी, और उनके स्वशासन का अधिकार मान्यता प्राप्त था। भारत में "स्थानीय स्वशासन प्रणाली" को सबसे पहले व्यवस्थित रूप से ब्रिटिशों द्वारा विकसित किया गया। स्थानीय स्वशासन की अवधारणा को स्थापित करने वालों में से एक लॉर्ड रिपन थे। 1882 में उनके प्रस्ताव में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को "मैग्ना कार्टा" कहा गया।

1919 के भारत सरकार अधिनियम के माध्यम से स्थानीय स्वशासन को विषयों की ट्रांसफर सूची में शामिल किया गया, जिसने प्रांतों में द्वि–शासन प्रणाली भी स्थापित की। 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने इस प्रणाली को और अधिक सुदृढ़ और विस्तारित किया।

जब स्वशासन प्रणाली लागू की जा रही थी, तो लॉर्ड रिपन ने 1882 में हाउस ऑफ कॉमन्स की चयन समिति को लिखा: "किसी हद तक, ग्रामीण समुदाय गणराज्यों की तरह कार्य करते हैं। लोग अपनी आवश्यकताओं का स्वयं ध्यान रखते हैं। लगभग कोई बाहरी प्रभाव इन्हें प्रभावित नहीं करता।"

लॉर्ड रिपन की यह टिप्पणी आदिवासी स्वशासन प्रणाली पर प्रकाश डालती है। पारंपरिक जनजातीय समुदायों की विशेषता छोटी–स्तरीय स्वशासन और सामूहिक प्राधिकरण थी। [9]

अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के परिणामस्वरूप, ब्रिटिशों ने गांव के स्वशासन प्रणाली की गहन जांच शुरू की। जनजातीय स्वशासन को कमजोर करने के प्रयास में, ब्रिटिश सरकार ने अपने साधनों के माध्यम से आदिवासी बस्तियों पर अधिकार स्थापित करने की कोशिश की। यह प्रक्रिया पारंपरिक प्रशासनिक संरचना और ग्राम स्तर के कानूनी अधिकारों को कमजोर करने से शुरू हुई और धीरे–धीरे सफल हुई।

क्योंकि उन्हें हर गाँव की पूरी आबादी से लड़ना पड़ा और आदिवासी जंगलों में रहते थे, इसलिए ब्रिटिश केवल आंशिक रूप से सफल हो पाए। अंततः, ब्रिटिशों के पास आदिवासी क्षेत्रों को छोड़ने और पीछे हटने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा। इस क्षेत्र को "बहिष्कृत क्षेत्र" कहा गया। भारत की संविधान की पाँचवीं और छठी अनुसूचियाँ स्वतंत्रता के समय इस क्षेत्र की स्वायत्तता को मान्यता देती हैं।

इस प्रकार, आदिवासी लोग एक प्रकार के स्वशासन के तहत कार्य करते हैं। सीमा के भीतर विवादों को सुलझाने का उनका पसंदीदा तरीका आपसी सहयोग है। वर्तमान में, झारखंड अभी भी मुंडा–मानकी प्रणाली के अनुसार शासन किया जाता है। [10]

पंचायती राज, जैसा कि आज मौजूद है, जनजातीय स्वशासन का ही एक विकास है। समाज को बेहतर भविष्य की ओर ले जाने का आदर्श मार्ग जनजातीय स्वशासन प्रणाली ही है। ब्रिटिश शासन से पहले, आदिवासी क्षेत्रों में स्वशासन स्थापित था, इसलिए आदिवासी लोगों को शासन की चिंता करने की आवश्यकता नहीं थी। जनजातीय स्वशासन से अधिक वास्तविक और प्रभावी सामाजिक न्याय और गरिमा की कोई प्रणाली नहीं थी।

स्वदेशी लोगों की प्रथागत ज्ञान प्रणालियाँ

धन और प्राचीनता में समृद्ध, जनजातीय "वंशानुगत ज्ञान प्रणाली" पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक रूप से स्थानांतरित होती रही है। जनजातीय संस्कृतियों में परंपराएँ, आस्थाएँ और ज्ञान कहानियों और मौखिक कथाओं के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचते हैं। ये उनके सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतिबिंब हैं। [11]

पारंपरिक आदिवासियों के पास प्राकृतिक जगत का व्यापक ज्ञान होता है। अपने परिवार और वंशावली के माध्यम से उन्होंने जंगली खाद्य पदार्थ, औषधीय पौधे और जानवरों के बारे में विशाल जानकारी एकत्र की है।

प्रसिद्ध मानवविज्ञानी गणेश एन. देवी अपनी पुस्तक 'एक खानाबदोश जिसे चोर कहा जाता है' में लिखती हैं: "आदिवासियों से बातचीत करने पर हमें यह आभास हो सकता है कि उनके पास पारंपरिक ज्ञान के योग्य कोई प्रणाली नहीं है। लेकिन जब हम उनके जीवन जीने के तरीके, घर बनाने की शैली और प्रकृति के प्रति उनकी समझ को देखते हैं, तो हमें यह निष्कर्ष निकालना ही पड़ता है कि उनके पास गहन ज्ञान है।"

यह प्रतीत हो सकता है कि आदिवासियों के पास पारंपरिक ज्ञान के लिए कोई व्यवस्थित प्रणाली नहीं है, लेकिन जब हम उनके जीवन शैली, आवासीय प्रथाओं और प्रकृति के प्रति गहन समझ का अवलोकन करते हैं, तो हम यह मानने को मजबूर हो जाते हैं कि उनके पास वास्तव में गहन और समृद्ध ज्ञान है। [12]

जनजातीय जीवनशैली में शोषण की कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भले ही कुछ असमानताएँ हों, विशेष रूप से लिंग के आधार पर, फिर भी आदिवासी लोग गैर–आदिवासी लोगों की तुलना में प्रकृति और जीव–जंतुओं के प्रति अधिक संवेदनशील और ज्ञानवान प्रतीत होते हैं। (रामधारी; 2010)

प्रोफेसर गणेश एन. देवी की टिप्पणियाँ यह दर्शाती हैं कि जनजातीय समाज की पारंपरिक ज्ञान प्रणाली का उपयोग प्राचीन काल से ही अपनी समुदाय की देखभाल और संरक्षण के लिए किया गया है। इसके अलावा, उन्होंने स्वीकार किया कि गैर–जनजातीय समाज की तुलना में आदिवासी समाज पर्यावरण और सभी जीवन रूपों के प्रति अधिक विचारशील है। इस ज्ञान का उपयोग कई बीमारियों के उपचार और रोकथाम में भी किया गया है। [13]

आदिवासी समुदायों की भाषा संबंधी विशेषताएँ

भारत में अधिकांश आदिवासी समुदायों के सदस्य मुंडा या द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। इन भाषाओं में से अधिकांश मौखिक रूप में प्रचलित हैं। भारतीय भाषाओं की इस विशाल विविधता के कारण सर जॉर्ज अब्राहम ग्रीअर्सन ने भारत में भाषाई सर्वेक्षण करने का कार्य शुरू किया।

ग्रीअर्सन के ग्यारह खंडों वाले कार्य के लिए " भारतीय भाषा सर्वेक्षण, भारतीय भाषा सर्वेक्षण और ग्रियर्सन भाषा सर्वेक्षण" वैकल्पिक शीर्षक हैं।

जॉर्ज ग्रीअर्सन ने 1894 में भारत के भाषाई सर्वेक्षण की शुरुआत की और 1928 में इसे पूरा किया। यह अध्ययन लगभग 33 वर्षों तक चला और इसमें 364 विभिन्न भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ शामिल थीं। इस सर्वेक्षण की निगरानी जॉर्ज ग्रीअर्सन ने की, जो भारतीय सिविल सेवा में ब्रिटिश सरकार के अधिकारी थे।[14]

ग्रीअर्सन की पुस्तक " हिंदी साहित्य का इतिहास," जिसका उपशीर्षक "उत्तरी हिंदुस्तान का आधुनिक स्थानीय साहित्य" था, 1888 में एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित हुई। इन पुस्तकों ने भारतीय हिंदी साहित्य को समझने में अत्यधिक मदद की।

यह पहली कोशिश थी जिसमें आधिकारिक रूप से आदिवासी लोगों की मौखिक परंपरा को भाषा के रूप में मान्यता दी गई। साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता प्रोफेसर गणेश एन. देवी के अनुसार, "ग्रीअर्सन का कार्य एक अद्वितीय और महत्वपूर्ण सर्वेक्षण था, और अब यह सौ साल से अधिक पुराना हो गया है।" यह कथन आदिवासी भाषाओं के विकास के संदर्भ में किया गया। भाषाओं का विकास एक नदी के प्रवाह के समान है।

भाषा अपने प्रारंभिक ढांचे से विकसित होती है, जैसा कि प्रोफेसर गणेश एन. देवी ने उल्लेख किया। पुराने भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उन्होंने "पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया" की स्थापना की। [15]

प्रोफेसर गणेश एन. देवी के अनुसार, भारत की 22 आधिकारिक भाषाओं में से केवल दो आदिवासियों द्वारा बोली जाती हैं: संथाली और बोडो। भारत में विभिन्न भाषाओं का उपयोग करके कई राज्यों का निर्माण किया गया। 1991 की जनगणना के अनुसार, 263 भाषाओं के बोलने वाले बहुत कम हैं और 96 भाषाओं के 10,000 या अधिक बोलने वाले हैं। गैर–निर्धारित भाषाओं के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है क्योंकि वे मौखिक और लंबे समय से पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हैं।

यह सराहनीय है कि प्रोफेसर गणेश एन. देवी आदिवासी भाषाओं को जीवित रखने के लिए काम कर रहे हैं। वर्तमान में लगभग तीन हजार लोग भारत और विश्व भर से इस पहल में शामिल हैं और आदिवासी भाषाओं के संरक्षण में महत्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जॉर्ज ग्रीअर्सन ने " भारतीय भाषाई सर्वेक्षण " के चौथे खंड की प्रस्तावना में लिखारू "जटिल आदिवासी भाषाओं पर कार्य करना।" भारत की लगभग 45ः आबादी मुंडा या द्रविड़ भाषा बोलती है। मानवविज्ञानी बाद में इन्हें द्रविड़ जाति, नस्ल और भाषाई समूह के रूप में संदर्भित करते हैं। [16]

जॉर्ज ग्रीअर्सन ने आदिवासी भाषाओं को जटिल भाषाओं के रूप में वर्गीकृत किया। वर्षों के दौरान, आदिवासी भाषाओं को कई नाम दिए गए।

क्योंकि किसी भी भाषाविद ने कभी आदिवासी भाषाओं पर ध्यान केंद्रित नहीं किया, इनके लक्षणों का अध्ययन करने में काफी जटिलता दिखाई देती है। इस जटिलता के संदर्भ में, सर जॉर्ज ग्रीअर्सन ने कहा: "एक अध्ययन के अनुसार, आदिवासी लोग कुल 225 सहायक भाषाएँ और 105 पृथक भाषाएँ बोलते हैं। यह तथ्य कि ये भाषाएँ इतनी अलग हैं, इसका प्रमाण है। किसी समाज की सामाजिक संरचना और आदर्श इसकी व्यवस्थित भाषाओं में देखी जा सकती हैं। संगठन और समझ के उद्देश्यों के लिए चार मुख्य भाषाई परिवार हैंरू इंडो–यूरोपीय, द्रविड़, तिब्बती–चीनी और ऑस्ट्रो–एशियाटिक परिवार।" [17]

निष्कर्ष

अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय जनजातीय समुदाय केवल एक सामाजिक समूह नहीं, बल्कि प्रकृति, संस्कृति और मानव जीवन के संतुलन का जीवंत उदाहरण हैं। उनका जीवन पर्यावरण संरक्षण, सामूहिक सहयोग, स्वशासन तथा पारंपरिक ज्ञान पर आधारित है, जिसने हजारों वर्षों तक उनकी सांस्कृतिक पहचान को सुरक्षित रखा है। जनजातीय समाज प्रकृति को उपभोग की वस्तु नहीं बल्कि जीवनदाता के रूप में स्वीकार करता है, इसलिए उनके जीवन में वृक्ष, जल, भूमि और वन का विशेष महत्व है। उनकी परंपराएँ पर्यावरणीय संतुलन और सतत विकास की वास्तविक अवधारणा को प्रदर्शित करती हैं।

अध्ययन यह भी दर्शाता है कि औपनिवेशिक नीतियों, आधुनिक विकास मॉडल, औद्योगिकीकरण और विस्थापन ने जनजातीय समाज की संस्कृति, भाषा और अस्तित्व को प्रभावित किया है। फिर भी जनजातीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक विरासत और प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। उनकी स्वशासन प्रणाली, सामुदायिक जीवन शैली तथा पारंपरिक ज्ञान आज के समाज के लिए प्रेरणास्रोत हैं। अतः आवश्यक है कि सरकार और समाज जनजातीय समुदायों की परंपराओं, भाषाओं और पर्यावरणीय ज्ञान को संरक्षित करने के लिए प्रभावी नीतियाँ बनाएँ तथा विकास की मुख्यधारा में उन्हें सम्मानजनक स्थान प्रदान करें। जनजातीय समाज से प्राप्त पर्यावरणीय और सामाजिक मूल्यों को अपनाकर ही एक संतुलित, न्यायपूर्ण और सतत समाज की स्थापना संभव है।

संदर्भ सूचि

1. रंगनाथा, बी. (2023). जनजातीय पहचान और राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास के निहितार्थ : एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एप्लाइड साइंस एंड इंजीनियरिंग, 2(1), 27–40।
2. अपूर्वा, ए. (2022). स्वदेशी समुदाय : मानवाधिकार और विकास के अधिकार—भारतीय संदर्भ का अन्वेषण। इलेक्ट्रॉनिक जर्नल ऑफ सोशल एंड स्ट्रैटेजिक स्टडीज़, 3, 289–313।
3. राज, ए. (2020). भारत में आदिवासियों के भूमि अधिकारों का अध्ययन। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ लॉ मैनेजमेंट एंड ह्यूमैनिटीज, 3(4), 1070–1079।
4. नयन, एस. (2019). जनजातीय पहचान और संस्कृति : आधुनिकीकरण का प्रभाव।
5. कोरोस्टेलिना, के. (2017). सामाजिक पहचान और संघर्ष : संरचनाएँ, गतिशीलता और निहितार्थ। चाम : स्प्रिंगर।
6. ज़ाक्सा, वी. (2020). भारत के स्वदेशी लोगों के रूप में जनजातियाँ। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 34, 3589–3595।
7. भुक्या, बी. (2021). आदिवासी/स्वदेशी अध्ययन की विशेषताएँ। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 56(25), 13–17।
8. गुप्ता, एस. डी. (2019). औपनिवेशिक और स्वतंत्रता–उपरांत भारत में 'जनजाति' की कल्पना। पोलितेजा, 16(2(59)), 107–121।
9. पाठी, जे. (2018). भारतीय राज्य के संदर्भ में जनजाति, क्षेत्र और राष्ट्र। सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, 48(1–2), 97–111।
10. कुजूर, जे. एम. (2021). स्वदेशी लोग : उनकी पहचान और संघर्ष। टेकिंग टेक्स्ट टू कॉन्टेक्स्ट (पृ. 208–233)।
11. चौधरी, एस. एन. (2018). वैश्वीकरण, पर्यावरणीय क्षरण और जनजातीय पहचान : मध्य भारत के विशेष संदर्भ में। ग्लोबलाइजेशन, एनवायरनमेंट एंड सोशल जस्टिस (पृ. 241–260)। नई दिल्ली : रूटलेज इंडिया।
12. खुप्टे, ए. आर. (2023). जनजातीय धर्म और पहचान की राजनीति। द रूटलेज हैंडबुक ऑफ कंटेम्परारी रीडिंग्स ऑन ट्राइब एंड रिलिजन्स इन इंडिया (पृ. 406–418)। नई दिल्ली : रूटलेज इंडिया।
13. बसु, आई. (2012). मान्यता और पुनर्वितरण की राजनीति : विकास, जनजातीय पहचान की राजनीति और भारत के झारखंड में वितरणात्मक न्याय। डेवलपमेंट एंड चेंज, 43(6), 1291–1312।
14. चौबे, के. एन. (2016). राज्य, जनजातियाँ और कानून :PESA और FRA के अधिनियमन के पीछे की राजनीति। सोशल चेंज, 46(3), 355–370।
15. सिन्हा, एस. (2017). भारत में जनजातीय एकजुटता आंदोलन : एक समीक्षा। द ट्राइबल सिचुएशन इन इंडिया (पृ. 411–423)।
16. गुहा, आर. (2017). आदिवासी, नक्सलवादी और भारतीय लोकतंत्र। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 42, 3305–3312।
17. मिश्रा, डी. के. (2023). विकास, शासन और पहचान : उत्तर–पूर्व भारत में जनजातीय विकास। ट्राइबल एरिया डेवलपमेंट एंड नॉर्थईस्ट इंडिया (पृ. 1–19)।